

## स्वायत्तता की धारणा

□ हीसून बाई

अनुवाद : संतोष शर्मा

“स्वायत्तता व्यक्ति का नियंत्रण केवल विवेक के माध्यम से करती है जो कि स्वः के लिए नैसर्गिक एवं आंतरिक है और साथ ही बाहर से थोपे गये सत्ता के विभिन्न रूपों का विरोध करती है । ऐतिहासिक रूप से स्वायत्तता की यह धारणा जैसे कि “व्यक्ति का नियंत्रण केवल विवेक के द्वारा होता है” ज्ञानोदय परियोजना का केन्द्र बिन्दु थी : इसने इसानों को बाहरी सत्ता पर निर्भरता के बंधनों से छुटकारा दिलाने तथा शिक्षा के माध्यम से जो व्यक्ति की आंतरिक एवं सहज स्थिति है उस स्वायत्तता की पुनः प्राप्ति का प्रस्ताव रखा।” इस प्रस्थान-बिन्दु से चलकर यह लेख समकालीन शिक्षण-प्रक्रिया में स्वायत्तता की धारणा को एक संगत और लयबद्ध रूप में प्रस्तुत करता है जो शिक्षण को व्यापक, अर्थवान और ज्यादा स्थायित्व प्रदान करने वाले कारक के तौर पर उभरती है । यह एक साथ सृजन और नवोन्मेष का उपक्रम है । लेख के साथ एक प्रतिक्रिया भी दी जा रही है ।

इस समन्वेषी लेख में मैं स्वायत्तता की धारणा एवं इसकी सहचर आत्मसंयम की नैतिक स्थिति पर प्रश्न करूंगी । मैं तर्क करूंगी कि स्वयं एवं अपने माहौल पर नियंत्रण, जैसा प्रायः स्वायत्तता का अर्थ समझा गया है, नैतिक रूप से एक समस्याप्रद धारणा है क्योंकि नियंत्रण का अर्थ है “दूसरे” का निषेध एवं दमन (चाहे दूसरा कोई और न होकर स्वः का ही एक पहलु हो।) । इसके बाद मैं यह तर्क करूंगी कि स्वायत्तता के बारे में मेरी चिंताओं का समाधान एवं एक अधिक एकीकृत व सुसंगत नैतिक क्रिया का सैद्धांतिकरण हो सकता है यदि स्वायत्तता के बारे में चिंतन नियंत्रण के बजाय समन्वय के आधार पर किया जाये। अतः मैं जो प्रस्ताव रखती हूँ वह है हमारी नैतिक शब्दावली एवं इसके चिंतन के सहायक तरीकों में बदलाव ।

स्वायत्तता को एक असंदिग्ध शैक्षणिक शुभ के रूप में माना जाता रहा है । वास्तव में कौन अस्वीकार करेगा कि उदारवादी समाज में स्वायत्तता एक सर्वोत्तम शैक्षणिक ध्येय है । क्रिटिण्डन टिप्पणी करते हैं कि स्वायत्तता जीवन के उन पहलुओं को समाहित करती है जिन्हें हम उदारवादी प्रजातांत्रिक राजनीति में अच्छी जिंदगी के लिए आवश्यक मानते हैं। हमारे जीवन स्वः निर्देशित हैं; जिंदगी को निर्देशित करने के तरीके हम स्वयं चुनते हैं । स्वायत्तता का अर्थ है, जैसा माइकल वालजर टीका करते हैं, कि हम केवल अपने शरीर के ही नहीं बल्कि अपने चरित्र, गुण एवं कर्मों के भी मालिक हैं। हैर एवं पोर्टले भी टिप्पणी करते हैं : “शिक्षा.....सामान्यतः जागरूकता, विवेक, चैतन्य जवाबदेह एवं सुविचारित चयन, उदारवादिता एवं सूक्ष्म चिंतन, संकल्पग्राहिता, संवेदनशीलता एवं ध्यान और स्वायत्तता से संबंधित है।” इस लम्बी सूची को देखते हुए कोई भी तर्कसंगत रूप से यह दावा कर

सकता है कि इसके कई विषयों का आधार स्वायत्तता है । यहां यह बात ध्यान रखने योग्य है कि स्वायत्तता एक शैक्षणिक अच्छाई है क्योंकि इसे “सीखना” या परिष्कार करना पड़ता है : यह ऐसी कोई चीज नहीं है जो हममें जन्मजात पाई जाती है। लेकिन हम स्वायत्त कैसे बनते हैं ? स्वायत्त बनने के लिए क्या आवश्यक है ?

स्वायत्तता व्यक्ति का नियंत्रण केवल विवेक के माध्यम से करती है जो कि स्वः के लिए नैसर्गिक एवं आंतरिक है और साथ ही बाहर से थोपे गये सत्ता के विभिन्न रूपों का विरोध करती है । ऐतिहासिक रूप से स्वायत्तता की यह धारणा जैसे कि “व्यक्ति का नियंत्रण केवल विवेक के द्वारा होता है” ज्ञानोदय परियोजना का केन्द्र बिन्दु थी : इसने इसानों को बाहरी सत्ता पर निर्भरता के बंधनों से छुटकारा दिलाने तथा शिक्षा के माध्यम से जो व्यक्ति की आंतरिक एवं सहज स्थिति है उस स्वायत्तता की पुनः प्राप्ति का प्रस्ताव रखा। जब तक का स्वः बाहरी ताकतों से नियंत्रित होता है, तब तक स्वः स्वायत्त न होकर परायत्त है । नैतिक परिपक्वता सामान्यतः स्वः से स्वायत्तता की ओर क्रमिक बदलाव माना गया है, जैसे ज्यां पियाने एवं लारेंस कोहलेबर्ग द्वारा स्थापित सिद्धांतों में किया जा चुका है। उनके मतानुसार जब तक व्यक्ति मूल स्वः का बोध स्थापित कर इसे नैतिक सिद्धांतों एवं विधानों में निष्ठा से अनुशासित नहीं कर लेता, वह स्वायत्त नैतिक-कर्ता (मोरल अगाट) नहीं बनता । यहां यह तथ्य ध्यान योग्य है कि स्वःनुशासन स्वायत्तता का सबसे मुख्य पहलु है । कोई एक स्वायत्तता यानि की स्वतंत्र इच्छा शक्ति एवं मत के साथ दुनियां से संबंध स्थापित करे उससे पहले उसे अपने को अपने ही आदेशक के रूप में अनुशासित करके मालिक बनना पड़ेगा । जो कोई स्वयं को अनुशासित करने में विफल हुआ है वह इच्छा शक्ति की कमजोरी से ग्रसित रहता है जिसके बारे में अरस्तु काफी

विस्तार से उपदेश देते हैं (अरस्तु की शब्दावली में एक्रसिया) । बहुत से नैतिक विचारकों, अरस्तुवादियों एवं गैर अरस्तुवादियों दोनों के लिए, एक्रसिया की समस्या बहस का एक मुख्य केन्द्र रही है । स्वायत्तता सर्वोपरि आत्मसंयम है । विवेक का सहारा लेकर अपने वातावरण को नियंत्रित करने से पहले स्वः को, खुद को नियंत्रित एवं अनुशासित करना पड़ता है । क्योंकि स्वः गैर विवेकी एवं विवेकहीन पहलुओं को भी अंतर्निष्ठ करता है । जब तक स्वः आत्म संयम एवं स्वः नुशासन में समर्थ नहीं है, तब तक यह अपने से दूसरे के ऊपर प्रभाव एवं आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ नहीं होता । यहां पुरानी उक्ति “दुनिया का मालिक बनने से पहले खुद को खुद का मालिक बनना पड़ता है” इस पूरी बात के आशय को अभिव्यक्त करती है ।

स्वानुशासन एवं आत्म संयम की इस धारणा के बारे में एक बहुत ही विशिष्ट बात है । विशिष्टता का संबंध स्वः का अपने आप को शासक एवं शासित दोनों में विभाजन करने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से है । एक दोहरी आत्म-बिंबक अस्मिता बनानी पड़ती है । इस आत्म बिम्बकता की मानसिक अभियांत्रिकी किस प्रकार घटित होगी, इसका एक सामान्य अन्वेषण इस लेख की परिधि के बाहर है । ना ही मैं इस तथ्य (सच्चाई) के प्रति खास चिंतित हूँ कि हमारा मानस आत्म बिम्बकता में समर्थ है । लेकिन इस लेख में मेरी चिंता आत्म बिम्बकता की खास प्रकृति से है अर्थात् आत्म नियंत्रण एवं आत्म-शासन से है । आत्म नियंत्रण एवं आत्म-शासन का अर्थ है कि व्यक्ति के ऐसे पहलू हैं जिन्हें अस्वीकार व दमित कर स्वः के विवेकी अंश के अधीन करने की आवश्यकता है ।

आत्म-नियंत्रण की यह धारणा पश्चिम में ज्ञात अधिकतर परम्परागत नैतिक विचारों के केन्द्र में है । जिसमें स्वः विवेक के मार्ग दर्शन में अपने अन्य पहलुओं; जो विवेक के बाहर हैं, जैसे समस्त भावात्मक एवं एंड्रक आयाम; पर नियंत्रण रखता है शासन करता है । स्वः में स्थित विवेकी शक्ति एक अविवेकी तथा गैर विवेकी शक्ति के मध्य संघर्ष को अरस्तु से लेकर कांत, फ्रायड एवं कोहेलबर्ग तक ने नैतिक बनने के लिए मूलभूत कदम समझा है और नैतिकता की विजय तब होती है जब विवेकी ताकत की अविवेकी एवं गैर विवेकी ताकत पर जीत होती है । इसी तरह नैतिक विकास का सिद्धांत प्रस्तुत करने वाले बहुत से मनोवैज्ञानिकों का काम हमें यह दिखाना (बताना) रहा है कि मनुष्य में विवेक की स्थापना होती ही कैसे है, क्योंकि हम जन्मजात विवेकी नहीं होते । इस प्रकार उदाहरण स्वरूप फ्रायड ने परिकल्पना की कि किस प्रकार माता- पिता के बाहरी अंकुश का आंतरीकरण की प्रक्रिया द्वारा ‘पराहम्’ या अन्तरात्मा की आवाज के रूप में विकास होता है । सत्ता द्वारा बाह्य नियंत्रण को विवेकशील आत्मसंयम के आधार के रूप में अंतर्निष्ठ करने की यह धारणा आम मनोविज्ञान का एक

हिस्सा बन चुकी है । यहां पर मेरी चिंता आंतरीकरण को लेकर नहीं है । एक बार फिर, मैं उसे मनोविज्ञान के अनुभवजन्य तथ्य के रूप में ले सकती हूँ । लेकिन सवाल रह जाता है कि इस बाह्य नियंत्रण का ही आंतरीकरण क्यों हो ? इसके विपरीत टेलर की संवाद के मध्य उभरती स्वः की धारणा को लेते हैं । स्वः की अपनी एक आवाज उभरती है संवादी के रूप में, क्रमशः वह अपनी आवाज की खोज करता है । उस संभावना को फलीभूत करते हुए जो मूल परिस्थिति में संवाद के स्वरूप में एवं उसी पर निर्भर रहती है । यहां जो वर्णित या प्रस्तावित किया गया है वह बाह्य नियंत्रण के आंतरीकरण की धारणा से एक बहुत ही भिन्न धारणा है । अतः जो तर्क में यहां रख रही हूँ वह यह कि मनोवैज्ञानिक रूप से आंतरीकरण हमारे लिए अपरिहार्य हो सकता है । लेकिन हम क्या और ठीक कैसे अंतर्निष्ठ करें, यह अवश्यंभावी न होकर हमारी इच्छा पर निर्भर है । विवेक के आधिकारिक धारक माने जाने वालों (शिक्षक एवं माता-पिता) के बाहरी नियंत्रण के आंतरीकरण को ही स्वायत्तता मानना बहुत से विकल्पों में से एक है । हालांकि यह विकल्प इतने अरसे से अनुमोदित रहा है एवं व्यवहार में लाया गया है कि वह एक “मनोवैज्ञानिक सच्चाई” बन गया है ।

लोगों पर विवेक के नियंत्रण का इतिहास, चाहे आंतरिक या पारस्परिक अत्यंत सुखदायी नहीं रहा है । नियंत्रण का तात्पर्य है वर्जन, निषेध, अवैधीकरण, आधिपत्य एवं दमन । यहां युद्ध एवं हिंसा के प्रायरिक रूपक प्रासंगिक हैं । जब ए बी को नियंत्रित करना है, ए मालिक है या विजेता है जो बी को पराजित करता है एवं इस पर शासन करता है । अगर बी ए के शासन का विरोधी है तब उसका (बी) दमन कर अधीन करना आवश्यक है । जैसे यह ध्यान देने योग्य है कि ऐतिहासिक रूप से महिलाओं, बच्चों, विदेशियों एवं पागल मनुष्यों जिन्हें पूर्णतः विवेकधारी नहीं माना गया था, का दमन करने के लिए यही तर्क दिया जाता था । विवेक के नाम पर हमारी मनुष्य जाति ने एक दूसरे को क्षति पहुंचाई है । यह मनुष्य के आपस में पीड़ा पहुंचाने की बात है । व्यक्ति जो स्वयं को पीड़ा पहुंचाता है वह भी कम कष्टदायी नहीं है । वास्तव में पीड़ा आखिरकार दिल-दिमाग में शांति व चैन का अभाव नहीं तो और क्या है । और इस अभाव के शारीरिक वेदना से लेकर आंतरिक द्वंद तक विभिन्न कारण हो सकते हैं । व्यक्ति के मन में विवेक व इच्छा के बीच जो विभाजन पैदा किया गया है, और, इससे भी अधिक यह नैतिक मांग कि विवेक नियंत्रक एवं शासक हो । निश्चित रूप से द्वंद, संघर्ष, और आधिपत्य-दासता की समस्त विकृत मानसिक कार्यवाही को निमंत्रण है ।

स्वायत्तता में नियंत्रण की धारणा मेरे लिए काफी समस्याप्रद है और मैं नैतिक आधारों पर इसका खण्डन करती हूँ । मैं भलीभांति परिचित हूँ कि मेरी दलील यहां व्यंगोक्ति ही लगती है, क्योंकि ठीक

विवेक के माध्यम से आत्म-संयम ही परिपक्व नैतिक विकास में मूल कदम माना गया है और फिर भी मैं नैतिक आधारों पर ही इसका विरोध कर रही हूँ। क्या ऐसा है कि नैतिक आधार से मेरा अभिप्राय उस अभिप्राय से अलग है जो आत्म संयम को नैतिकता का सारतत्व मानता है। इस विषय में समझ के अन्तर का पूर्ण रूपेण खुलासा करना काफी पेचीदा कार्य है जो इस वर्तमान लेख के दायरे से बाहर है, लेकिन कम से कम मुझे नैतिकता की मेरी समझ का एक संक्षिप्त खाका तो खींचना ही चाहिए। क्योंकि यही वह वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य है जिसमें मैं आत्म-संयम को अंतर्निष्ठ करके स्वायत्तता की धारणा की समस्याप्रद प्रकृति को समझने में समर्थ हूँ। मेरे मन में जो परिप्रेक्ष्य है वह इस हद तक वैकल्पिक है कि इसमें नैतिकता की अवधारणा उस परम्परागत से अलग हो जाती है जिसमें नैतिकता मौलिक रूप में 'उत्तरदायित्वों' की और उन्हें वहन करने की व्यवस्था है जो हमें बताती है कि किसी परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए। इस उपरोक्त विचार के अन्तर्गत, नैतिक सिद्धांतों एवं विधानों से अनुरूपता नैतिक औचित्य को निर्धारित करती है। नि- संदेह, अनुरूपता का अभाव नैतिक अवैधता को इंगित करता है। तब आत्म संयम के रूप में स्वायत्तता का आशय होगा, जो उचित है उससे अनुरूपता एवं जो अनुचित है उस का प्रतिरोध। और उचित क्या है तथा अनुचित क्या है, यह तो उत्तरदायित्वों की व्यवस्था में पहले से ही निर्धारित कर दिया गया है।

हालांकि मैं यह अस्वीकार नहीं करती कि नैतिकता की उपरोक्त धारणा जिसमें नियंत्रण एवं अनुपालन मुख्य हैं, लोगों की अन्तर्क्रिया एवं परस्पर व्यवहार को संचालित करने का काम कर सकते हैं। मेरी नजर में नियंत्रण, चाहे लोगों का आंतरिक हो या परस्पर, एक दमनात्मक ताकत है जो 'अन्य' (विभिन्न प्रकार के रूपों में) को अवरुद्ध करती है एवं नकारती है। और यह समन्वय, एकीकरण, पूर्णता में योगदान न करके असामंजस्य, मन के विघटन (जैसे विवेक और भावना, विवेक और इच्छा इत्यादि) को बढ़ावा देती है। और इस तरह कुल मिलाकर कल्याण का अपक्षण करती है। या और जोर देकर कहें तो नियंत्रण हिंसा का एक रूप है क्योंकि वह 'अन्यत्व' का दमन करता है, उसे चुप कराता है एवं उसको शासित करता है।

यदि अन्यत्व को नकार कर व्यक्ति के आंतरिक एवं परस्पर नियंत्रण की प्राप्ति की जाती है तो मैं इस उपलब्धि को नैतिक रूप से व्यवहार पर उचित नहीं मानती। हालांकि यह मानती हूँ कि नैतिकता का उद्देश्य व्यवहार का संचालन/नियंत्रण ही होता है। हालांकि मैं स्वीकार करती हूँ कि नैतिकता का संबंध सही एवं गलत से है क्योंकि नैतिक मूल्यांकन का मापदण्ड ही यही है। किंतु नैतिकता क्या है व किसलिए है? मेरी राय में, इस प्रकार के निरूपण

को सही व गलत संबोधित नहीं करते। मैं विस्तृत चर्चा किये बिना यह स्पष्ट करना चाहूंगी कि कल्याण की भावना के साथ, सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से अपना जीवन जीने के लिए लोगों को समर्थ बनाना नैतिकता का लक्ष्य है। मेरे लिए, नैतिकता का सुख शांतिवादी सिद्धांत, कर्तव्यबोध सिद्धांत से ज्यादा महत्वपूर्ण है। इसके अलावा, मनोवैज्ञानिक तरीके से कहने पर किसी भी प्रकार की प्रताड़ना एवं दमन के माध्यम से सुख-शांति के भाव की प्राप्ति नहीं की जा सकती, भले ही यह विवेक के नाम पर हो। जहां कहीं भी नियंत्रण, निषेध एवं दमन के रूप है, वहां कल्याण की भावना नहीं हो सकती। यही वजह है कि मैं नैतिक विचार के ताओवादी सिद्धांत की ओर अभिमुख हो रही हूँ। क्योंकि इसमें मानव व्यवहार के नियमन को नियंत्रण एवं अनुपालन की भाषा में नहीं बल्कि समन्वय एवं एकीकरण की भाषा में समझा गया है।

नैतिकता की ताओवादी धारणा में नैतिक होने का सार तत्व समन्वय महसूस करने एवं समन्वय बनाने में है। और इसलिए स्वः का अपने आप में एवं बाहरी दुनियां से संबंधों में नियमन व सामंजस्य समन्वयन की मूल भावना की कीमत पर करना नैतिकता के अत्यंत मौलिक भाव में असफल होना है। ताओवादी सिद्धांत में नैतिकता की चुनौती, मानवीय यथार्थ के सभी तत्वों एवं ताकतों को इस प्रकार संगत करने में है जिससे समन्वय के अधिकतम भाव की प्राप्ति हो सके। इसलिए चुनौती हर घटक, (व्यक्ति, मानसिक अवस्था इत्यादि) के औचित्य के किसी पूर्व निर्धारित मानदण्ड, जैसे सामान्य रूप से नैतिक सिद्धांत एवं विशिष्ट रूप से विवेक, के अनुरूप होना नहीं है। जहां जो अनुरूप न हो उसको नकारना एवं उसका दमन करना होता है।

नियमन के ताओवादी सिद्धांत एवं स्वायत्तता पर आधारित सिद्धांत के बीच उपरोक्त विभाजन मौलिक रूप से दो भिन्न विचारधाराओं का चित्रण करती है जिन्हें एम्स "तर्क आधारित व्यवस्था" एवं "सौंदर्य-आधारित व्यवस्था" कहते हैं। स्वायत्तता की धारणा की मेरी आलोचना को और मजबूत करने के लिए अब मैं एम्स द्वारा किये गये इन दो विचारधाराओं के विश्लेषण की मदद लूंगी।

एम्स स्पष्ट करते हैं कि तार्किक सिद्धांत संबद्धता के "एक पूर्व निर्धारित ढांचे, एक ऐसी रूपरेखा जहां बहुलता के पहले एकता है, को प्राथमिकता देता है"। इस प्राथमिकता के फलस्वरूप "तार्किक संरचना" का अर्थ हो जाता है, एक पूर्व निर्धारित मापदण्ड पर पूरे उतरना इसका कार्य है समापन एवं परिणाम है अनुपालन। इसके विपरीत सौंदर्यवादी विचार "एक घटक की अनन्यता को प्राथमिकता देता है जहां वह अन्य घटकों से सहयोग कर रहा होता

है, आपसी संबंधों के एक जटिल एवं उभरते हुए ढांचे के तहत ।

इसके विपरीत सौंदर्य आधारित व्यवस्था बनाना एक प्रकार का सतत् अनावरण है जहां अनूठी बुनावटों में प्रत्येक घटक की खासियत को बिम्बित करने वाली ठोस छोटी-छोटी विविधताओं के बीच समन्वयन साधा जाता है। सौंदर्य-आधारित व्यवस्था ऐसा कुछ नहीं है जो संबंधित घटकों से पहले ही विद्यमान हो बल्कि ऐसी एक संरचना है जो घटकों का एक दूसरे से समुचित ढंग से सामंजस्य स्थापित करने के लिए, उनकी ओर से किये गये सक्रिय प्रयत्न के परिणाम स्वरूप उदित हुई है । इस मकसद के लिए, जो प्रयत्न है वह है ठोस विशिष्ट संदर्भ में सामंजस्य का एक सुसंगत भाव हासिल करने के लिए विवेक पूर्वक एवं साथ ही सृजनात्मक रूप से स्वः एवं अन्यो को समझना । इस प्रयत्न के माध्यम से जो समन्वय उत्पन्न होता है वह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो पूर्वानुमानित, आयोजित, विशिष्ट या सुनियोजित रही हो । यद्यपि विभिन्न वस्तुओं एवं परिस्थितियों से गहन परिचय किसी को संभावित परिणामों का अंदाजा लगाने में मदद कर सकते हैं । लेकिन खास परिणामों की कोई पूर्व अपेक्षाएँ या पूर्वानुमान नहीं हो सकते क्योंकि सम्मिलित घटकों के बारे में विस्तृत ज्ञान मात्र उनके साथ सहयोगपूर्ण एवं समन्वयात्मक प्रक्रिया के माध्यम से ही प्राप्त होता है । इन दोनों सिद्धांतों के बीच भेद को स्पष्ट करने के लिए एम्स का कहना है:

“जहां तक अपने परस्पर संबंधों में हमारा व्यवहार संबद्धता के किसी पूर्व निर्धारित ढांचे-चाहे वह राजनैतिक, धार्मिक या सांस्कृतिक हो-द्वारा सीमित है; और जहां तक हम इस ढांचे का अनुपालन करते हुए अपने व्यवहार को निर्धारित करने वाले नियमों के रूप में, आज्ञापूर्वक एवं हू-ब-हू इसे प्रकट करते हैं; वहां तक हम अपने आप को एक तार्किक संरचना के रूप में संघटित करते हैं । दूसरी ओर जिस हद तक हम मुक्त होकर, बिना किसी पूर्वाग्रह के, किसी नियम, आदर्श या तत्व की बाध्यता के बिना, परस्पर संबंध बना सकते हैं, और जहां तक हमें चित्रित करने वाला एवं एकत्र करने वाली व्यवस्था घटकों के रूप में हमारे अपनी अपनी अनन्यता के मिलन से उभरी है, वहां तक हम एक सौंदर्य आधारित रचना के सृजक हैं ।”

इन दो सिद्धांतों के परस्पर विरोध का स्पष्टीकरण मैं तोषक निर्माण का उदाहरण देकर करूंगी । अलग अलग जगहों से संग्रह किये गये कपड़ों के रद्दी टुकड़ों से तोषक निर्माण एवं नये कपड़े से कोई पूर्व निश्चित नक्शे के अनुसार एक समान टुकड़े काटकर उससे तोषक बनाने के ढंग में जो मुख्य अंतर है, एक पुराना तोषक निर्माता होने के नाते मैं भलीभांति जानती हूँ । पहले तरीके में अनुपालन करने के लिए कोई रूपरेखा नहीं है, उसका परिणाम हाथ में आये अवशिष्टों के अनूठे संग्रह पर और उसके रंग-रूप के सामंजस्य की अनंत संभावनाओं के प्रति अपनी संवेदनशीलता पर

निर्भर है । इस योजना की चुनौती एक व्याख्यात्मक प्रयत्न से इन टुकड़ों को इस प्रकार समाकलित करने, सामंजस्य की विभिन्न संभावनाओं को समझने में है , ताकि ये टुकड़े एक दूसरे की शोभा बढ़ायें । ऐसे में एक ऐसा टुकड़ा भी जो अपने आप में विशिष्ट रूप से लुभावना नहीं है छोड़ा नहीं जाता, बल्कि दूसरे टुकड़ों के साथ समाविष्ट किया जाता है, जिससे कि इसकी अधिकतम क्षमता उभारी जा सके, जो बदले में संपूर्ण के बढ़ावे के लिए योगदान करता है।

समन्वय का शाब्दिक अर्थ लयबद्धता के रूप में लेते हुए इस बार श्रव्य जगत से एक सुंदर उदाहरण मेरे मन में उभर कर आता है। मेरे पारिवारिक पियानो का सुर मिलाने आई एक अनुभवी पियानो मिस्त्री से मुझे जानकारी मिली कि वह पियानों के तांतों को किसी निर्धारित (गणितीय) सुर के साथ मिलाने के बजाय प्रत्येक तांत के सुर को एक दूसरे से मिलाती है। इसे पहले वाले तरीके से करना भी संभव है : ऐसे भी इलेक्ट्रॉनिक यंत्र है जो ठीक प्रत्येक सुर की निर्धारित धुन को नापते हैं । लेकिन एक अनुभवी सुर मिलाने वाला तांतों की एक दूसरी से लय स्थापित करने के लिए सुर मिलाता है, जो कि अधिक समय लेता है क्योंकि प्रत्येक तांत को सभी दूसरी तांतों से लयबद्ध होना पड़ता है । इसलिए सुर मिलाने वाले को एक एक तांत का कई बार सुर मिलाना पड़ता है । एक परिभाषित दायरे में सबकी सबके साथ परस्पर लयबद्धता को ही इस उदाहरण के अनुसार समन्वयन कहते हैं । अतः समन्वयीकरण अनुरूपता खोजने से एक बहुत भिन्न प्रक्रिया है। संगठन के परिभाषित क्षेत्र में प्रत्येक घटक का हर दूसरे घटक के साथ लयबद्ध होना : लोगों के आंतरिक एवं परस्पर नियंत्रण का ताओवादी विचार यही है। अगर नैतिकता से हमारी समझ कठोर रूप से नैतिक विवेक व नैतिक सिद्धांतों के आदेशों की अनुपालना से है तो समन्वय महसूस करने एवं समन्वय निर्माण की ताओवादी समझ हमें नैतिकता का तकाजा पूरी रकती नहीं लगेगी । जैसा कि एम्स संकेत करते हैं कि ताओवादी सिद्धांत नीतिशास्त्र के बजाय (मानवीय) स्वभाव के अधिक करीब हैं। मैं इससे सहमत हूँ । फिर भी, नीतिशास्त्र के अर्थ को मात्र एक धारणा तक ही सीमित रखने एवं दूसरी व्यवहार्य धारणाओं को अनुचित मानने का कोई कारण नहीं है । समन्वय महसूस करने एवं समन्वय बनाने का ताओवादी सिद्धांत नियंत्रण आधारित नैतिकता के सिद्धांत का एक व्यवहार्य विकल्प है । नैतिकता की ताओवादी धारणा वही लक्ष्य विधिवत प्राप्त करती है जो स्वायत्तता की नैतिकता कहती है: अर्थात् व्यक्ति के मानस एवं व्यवहार का अंतरिम एवं परस्पर नियमन एवं सामंजस्य । पर यह लक्ष्य थोपने एवं नियंत्रण के तरीकों के बजाय समन्वयन एवं एकीकरण के माध्यम से किया जाता है । एम्स

के दो विचारधाराओं के विश्लेषण पर इस भाग को समाप्त करने में मैं एक संक्षिप्त लेखांश को उद्धृत करूंगी : अनुभवित व्यवस्था एक प्रदत्त या स्वीकृत स्थिति नहीं है बल्कि एक उपलब्धि है । यह एक ऐसी व्यवस्था है जो सिद्धांत के साथ अनुरूपता के आधार पर मूल्यांकित नहीं की जा सकती; इसका मूल्यांकन वैसे ही होना चाहिये जैसे कि एक पेंटिंग या सिंफनी का उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए करते हैं - अंततः अपने उद्देश्य के लिए “सही” होने के लिए । यह एक अति आवश्यक व्यवस्था का उद्घाटन नहीं करती है बल्कि उपलब्ध परिस्थितियों के अन्तर्गत विद्यमान बहुत सी संभावित व्यवस्थाओं में से मात्र एक है । इस प्रतिमान (ढांचे) में घटक अनुपालन के माध्यम से अपनी स्वयं की आत्मभिव्यक्ति को प्राप्त करता है : अपने चारों ओर की परिस्थितियों का, एक कार्यकुशल एवं हितकारी एकीकरण स्थापित करने के लिए अनुपालन करते हुए और उसी समय एक घटक के रूप में स्वयं का एक सम्पूर्णता एवं अखण्डता के रूप में खुलासा करते हुए ।

शिक्षा, एक संस्थागत गतिविधि के रूप में, नियंत्रण की, सोचने एवं करने में तार्किक व्यवस्था की भाषा बोलने के लिए विशेष रूप से प्रवृत्त होती है । अध्यापकों को अपनी कक्षा, पाठ एवं निर्देशों को अपने अधीन रखने का सदुपदेश दिया जाता है । विद्यार्थियों को उनके ध्यान, अध्ययन उनके भविष्य इत्यादि को अपने नियंत्रण में रखने का उपदेश दिया जाता है । शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के जीवन एक समान रूप से शैक्षिक-निर्देश एवं उनके परिणामों से संचालित रहती है । स्पष्ट रूप से वर्णित एवं निर्दिष्ट लक्ष्य और परिणामों के अभाव में, दोनों पक्ष बेचैन या कभी भयभीत भी हो जाते हैं, उस आकस्मिकता, अनिश्चितता से जो हमारे अनुभवों का स्वभाव है, वे अनुभव जो अभी तक शिक्षा संबंधी या अनुदेश संबंधी पूर्व निर्धारित प्रतिमानों से निर्मित नहीं हैं ।

यहां मुझे फ्राम की इस मान्यता की याद आ रही है कि दूसरों के नियंत्रित करने (यहां हम स्वयं को नियंत्रित करना भी इस में शामिल कर सकते हैं) की इच्छा ही नहीं बल्कि आंतरिक बाध्यकारी दबाव का कारण जीवन से डर होता है । अधिक सटीक रूप से कहें तो अननुमेयता, अनिश्चितता तथा खुले पत्र का डर; और ये सब उस जीवन के गुण होते हैं जो अभिनियंत्रित नहीं है, अनुशासित नहीं है ।

अध्यापक सावधानी पूर्वक निर्धारित शिक्षा संबंधी उद्देश्यों के साथ लैस होकर उन्हें विद्यार्थियों पर थोपने की तत्परता से कक्षा में प्रवेश करते हैं; एवं विद्यार्थी पाठ के अन्त में क्या सीख चुके होंगे इस का वायदा भी कर लेते हैं । “पाठ के अन्त में आप यह पहचानना सीख लेंगे । वह बनाना सीख लेंगे ।” सफलता के वायदों से मोहित विद्यार्थी इन वायदों का स्वागत करते हैं, और अगर इस प्रकार का वायदा पहले से नहीं दिया जाता है तो “संतुष्टि

निश्चित” के लेबिल के बिना कोई वस्तु खरीदने के समान ही विद्यार्थी भी आश्वस्त नहीं होते । जब तक शिक्षक निश्चित रूप से विद्यार्थियों से कुछ कार्य कराने पर आमादा न हो । अर्थात् इन्हें विवश करने पर आमादा न हो; तब तक हम कैसे वायदा कर सकते हैं कि विद्यार्थी कुछ करेंगे या नहीं करेंगे ? एक बार हम इस बात को समझ लेंगे तो इस प्रकार के वायदों की वास्तविक प्रकृति को पहचान लेंगे : वह है नियंत्रण । नियंत्रण की इस प्रकार की भाषा का विद्यार्थी जैसे स्वागत करते हैं, अपेक्षा करते हैं या कभी मांग भी करते हैं, इससे यह भी स्पष्ट होता है कि नियंत्रण के इस तरीके को पूरी तरह स्वीकार्य माना जाता है । बहुत से विद्यार्थी, उद्देश्यों एवं अपेक्षाओं का प्रारंभ में ही स्पष्ट रूप से एवं विस्तार से वर्णन नहीं किए जाने पर काफी बेचैन एवं आशंकित हो जाते हैं । विद्यार्थियों को अपनी शंकाओं, समस्याओं, दुविधाओं, अज्ञानता, एवं स्वयं की उपलब्धियों की छानबीन करने एवं उसे अभिव्यक्त करने का कोई भी अवसर देने की कोशिश प्रायः उनके रोष का शिकार होती है । आप अध्यापक हैं, “हमें स्पष्ट कहिये व तथ्यतः बताइये कि क्या करना है (जिससे कि हम अच्छे अंक प्राप्त कर सकें)” की मानसिकता प्रचलित है ।

इस परिस्थिति में विद्यार्थियों की स्वायत्तता का कोई अर्थ नहीं है । सिवाय इसके कि वे पूर्व निर्धारित नियमों से सहमत के लिए उनके अनुसार व्यवहार करने के लिए अपने आप को सहर्ष अनुशासित करें ।

जब स्वयं विद्यार्थियों की तरफ से यह दबाव आता है कि उन्हें स्पष्ट निर्देश मिले हैं कि वे क्या सीखें, क्या सोचें एवं क्या करके दिखायें तो शिक्षक के लिए थोपन एवं नियंत्रण के मार्ग पर वायदा आ जाना बहुत आकर्षक हो जाता है । क्योंकि विशेष रूप से शिक्षक भी आजकल सेवा प्रदान करने वाले उद्योग के घटक के रूप में अपनी आत्मछवि के प्रति बहुत सेवन्दनशील हैं । पर मेरा मानना है कि यहां जो दांव पर लगा है वह ज्ञान, प्राप्तांक, भावी नौकरियों तथा ग्राहक संतुष्टि से कही बड़ी चीज है । जो दांव पर है वह मानवता का स्वरूप है : कि हम एक दूसरे के साथ, अपने स्वयं के साथ एवं व्यापक तौर पर अपने परिवेश के साथ जीयें कैसे? हमें एक शिक्षक के रूप में, शिक्षार्थी के रूप में, या अभिभावक के रूप में वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न पूछना होगा जो शिक्षा को हम सें पूछना चाहिये : कि हम कैसे जिन्दगी सृजित करना व जीना चाहते हैं, कि हमें अच्छी जिन्दगी जीने के लिए कैसा इंसान बनना होगा?

हमें अपने आपसे यह सर्वप्रधान प्रश्न करना जरूरी है, जो शिक्षा को हमसे पूछना चाहिए : हम किस प्रकार के जीवन की सृष्टि करना चाहेंगे, और जीना चाहेंगे, एवं अच्छी जिंदगी जीने के लिए हमें किस प्रकार का मनुष्य बनना चाहिए ? ♦